वैदिक साहित्य में गुरु का महत्त्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन

रंजना देवी

शोध छात्रा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सारांश

भारतीय संस्कृति में गुरु को ब्रह्मा से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है "गुरु गोविंद दौ खडे काके लागू पांव बलिहारी गुरु आपने जो गोविन्द दियो मिलाय ।" गुरु को प्रेरक, प्रथम आभास देने वाला, सच्ची लो जगाने वाला और कुशल आखेटक कहा गया है । अपने शिष्य को उपदेश के बाणों से बिंध कर उसमें प्रेम की पीर संचारित कर देता है। योग दर्शन में कहा भी गया "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" वह ईश्वर सब के पूर्वजों के भी गुरु है क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं किया जा सकता । गृ शब्द इस धातु से गुरु शब्द बना है निरुक्त में कहा गया है । योग जो सत्य धर्म प्रतिपादक सकल विद्या युक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि वायु आदित्य अंगिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता । इसलिए उस परमेश्वर का नाम गुरु है ।

मुख्य-शब्द : गुरु, वैदिक साहित्य, महिमा शिष्य, ज्ञान, काल ।

परिचय :

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार शिक्षक को गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि विशेषणों से सम्बोधित करते थे । 'आचार्य देवो भव' वैदिक भावना 'गुरु' शब्द में अधिक विकसित दिखायी पड़ती है । गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म तक महनीय बताया गया है । प्राचीन युग में गुरु या आचार्य बनने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही प्राप्त था, जो अन्य विद्याओं के साथ-साथ शस्त्रविद्या, युद्धनीति तथा अर्थशास्त्र का अध्यापन करते थे।

गुरु शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में 'तन्त्रसार' में उल्लेख मिलता है कि 'ग' अक्षर सिद्धिदायक कहा गया है और र पाप का हरण करने वाला है । उ अव्यक्त विष्णु है । इस तरह तीन अक्षरों से बना यह शब्द परम गुरु का वाचक है । गुरुगीता में 'गु' शब्द को 'अन्धकार' के अर्थ में तथा 'रु' शब्द को अंधकार का विनाश करने वाला के अर्थ में लिया गया है । इस तरह अंधकार का निरोधक होने के कारण वह 'गुरु' कहा गया ।[1] धर्मज्ञान, भक्ति का उपदेश करने के कारण वह 'गुरु' कहलाता है । तत्त्व का, वेदादि शास्त्रों का और आत्मज्ञान के साधनों का उपदेश करने के कारण वह 'गुरु' कहा जाता है ।[2]

देवों, गन्धर्वो और मनुष्यों आदि से स्तुति किये जाने के कारण (गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः । गीर्यते स्तूयते महत्वाद् इति वा।), ज्ञान-वारि से शिष्य के हृदय-क्षेत्र को सींचने के कारण 'गृ सेचने । गरति सिञ्चति ज्ञानवारिणा शिष्य हृदय क्षेत्रम ।), शिष्य के अज्ञान को निगल जाने के कारण (गृ निगरणे । गिरति गिलति अज्ञानम् इति) तथा शिष्य को सत्पथ पर प्रवृत्त एवं परिचालित करने के कारण वह 'गुरु' शब्द से वाच्य है ।

प्राचीन भारत में वैदिक युग से ही आचार्य अथवा गुरु की स्थिति को काफी महत्ता दी गयी । समाज में उसका स्थान अत्यंत गरिमामय एवं आदर युक्त था । भारतीय शिक्षा-पद्धति में सारा का सारा अध्यापन अथवा शिक्षण मौखिक था और विद्यार्थी गुरु के पास ही रह कर शिक्षा ग्रहण करता था । अतः गुरुपद स्वभावतः उच्च एवं महान् माना गया । ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि जैसे देवताओं को गुरु अथवा आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है । सत्यकाम जाबाल स्वयं अपने गुरु से कहते हैं कि 'आपके ही समान अन्य गुरुजनों से मैंने सुना है कि गुरु से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही महान होता है ।[3] इसलिए गुरु को ईश्वर-पद प्रदान करते हुए परम श्रद्धास्पद माना गया ।[4] वह समाज में विश्ववेदा (सर्वज्ञ), सत्यमन्या (सत्य जानने वाला), विश्वानिवयुनानि विद्वान (विभिन्न विद्याओं में पारंगत) जैसे अनेक विशेषण से युक्त था ।

ऋग्वैदिक आचार्य दिव्यज्ञान के प्रतीक कहे गये हैं । गुरु अपरिपक्व बुद्धि के बालकों का दायित्व अपने ऊपर लेकर उन्हें समाज का योग्य और उपयोगी नागरिक ही नहीं बनाता, बल्कि वह पूरे समाज को बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान में पारंगत करता था । शिक्षक ही छात्र को अज्ञान के अंधकार से निकाल कर ज्ञान के प्रकाश में ले जाता है । ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्न रहता है, जिसे गुरु ही हटाता है और तब प्रकाश की किरणें फूट निकलती हैं ।[5] अतएव गुरु के प्रति कृतज्ञ होना तथा उसका अधिक से अधिक सम्मान करना, शिष्य का परम कर्त्तव्य समझा गया । समाज में गुरु की स्थिति सर्वोच्च थी । वह मात्र आदरणीय ही नहीं था, बल्कि पूजनीय एवं वन्दनीय भी था । वह देवता के सदृश्य और लोकप्रिय था । इसीलिए उपनिषदों में आचार्य को देवता कहा गया ।[6]

आपस्तम्भ का मानना है कि 'शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को ईश्वर की भांति मानें ।[7] गुरु को माता-पिता से भी अधिक पूज्य कहा गया है, क्योंकि माता-पिता से हमें केवल पार्थिव शरीर ही मिलता है, जबकि गुरु से बौद्धिक-उन्नति । इसीलिए वैदिक साहित्य में आचार्य को शिष्य का मानस-पिता कहा गया है ।[8] बौधायन धर्मसूत्र में यहां तक कह दिया गया है कि 'श्रोत्रिय' को कभी भी संतान हीन नहीं समझना चाहिए । उसके छात्र ही उसके पुत्र होते हैं ।[9]

वैदिक युग से ही गुरु आध्यात्मिक पिता के रूप में सर्वमान्य था । ज्ञान प्राप्ति हेतु गुरु को अपरिहार्य कहा गया । बिना गुरु के सहयोग और निर्देश के शिक्षा की कल्पना ही नहीं की जा सकती । 'एकलव्य' की कथा से दो बातें; गुरु की महत्ता एवं एकनिष्ठ भक्ति प्रमाणित होती है । निषाद एकलव्य को द्रोणाचार्य के द्वारा धनुर्धर की शिक्षा देना अस्वीकार किये जाने के पश्चात् भी, गुरु के प्रति एकनिष्ठ साधना एवं भक्ति के फलस्वरूप एक महान् एवं यशस्वी धनुर्धर बना ।[10] रैभ्य यवक्रीत से श्रेष्ठतर इसलिए माना गया क्योंकि उसने गुरु से शिक्षा ग्रहण की थी ।[11]

मनु एवं अन्य स्मृतियों में आचार्य की महत्ता को लेकर कुछ मतान्तर दिखायी पड़ता है। मनु एक स्थान पर पिता से आचार्य की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि पैदा करने वाला पिता और ब्रह्मज्ञानोपदेशक (आचार्य) इन दोनों में से ब्रह्मज्ञान देने वाला (आचार्य) श्रेष्ठ हैं, क्योंकि (ब्रह्मज्ञान रूपी फल वाला होने से) ब्रह्मजन्म (यज्ञोपवीत संस्कार = आध्यात्मिक विद्या में जन्म होता है ।) ब्राह्मण के लिए इस लोक तथा परलोक दोनों में ब्रह्मफल-प्राप्ति से नित्यत्व को प्राप्त करता है ।[12] किन्तु एक अन्य स्थल पर मनु ही आचार्य, उपाध्याय एवं पिता से माता की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि 'दस अध्यापकों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यो की अपेक्षा पिता और पिता की

अपेक्षा माता सहस्त्र गुणी उत्तम हैं ।[13] याज्ञवल्क्य[14] ने भी माता को श्रेष्ठ माना है, जबकि गौतम ने[15] आचार्य को ।

डॉ॰ अल्तेकर महोदय प्राचीन भारत की मौखिक शिक्षा प्रणाली को, भारतीय समाज में गुरु की महत्ता एवं आदर को प्रधान कारण मानते हुए कहते हैं कि लेखन-कला के विकास के पश्चात् मौखिक शिक्षा की परम्परा ही प्रचलित रही । वेदों को लिपिबद्ध करना निन्दरीय माना गया । वैदिक मंत्रों के शुद्ध स्वरोच्चारण पर विशेष जोर दिया गया । उच्चारण की शुद्धता सुयोग्य आचार्य से ही सीखी जा सकती थी । समाज में वेदों का अनुपम स्थान था और इस अमूल्य निधि की रक्षा बिना योग्य शिक्षक के सम्भव न थी । गुरु से शुद्ध उच्चारित शब्दों का अनुकरण आवश्यक होने के कारण गुरु की प्रतिष्ठा थी । उपनिषद् काल में रहस्यवादी दर्शन के उदय के कारण यह धारणा और भी बलवती हो गयी कि मुक्ति का मार्ग गुरु ही दिखला सकता है । अत: इस काल में गुरु की महिमा और भी बढ़ गयी ।दर्शन के क्षेत्र में महिमा बढ़ने के साथ-साथ समाज में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ने लगी, क्योंकि वे किसी शुल्क, बन्धन या लोभ के बिना ही समाज की सेवा करते थे ।[16]

प्राचीन युग में पुस्तकों की सार्वजनिक रूप से अनुपलब्धता ने विद्यार्थी को गुरु पर अधिक आश्रित रहने को विवश कर दिया ।[17] कला एंव विज्ञान के व्यावहारिक शिक्षण में गुरु के सहयोग एवं सहानुभूति से शिष्य सहज ज्ञान प्राप्त कर लेता था ।

गुरु की महत्ता की सुन्दर व्याख्या श्रीमद्भागवत् में की गयी है, जिसके अनुसार 'ध्यान का मूल है-गुरु की मूर्ति, पूजा का मूल है-गुरुचरण, मंत्र का मूल है - गुरुवाक्य तथा मोक्ष का मूल है - गुरु की कृपा ।[18] वस्तुत: ब्रह्मज्ञानी गुरु ही शिष्य को ब्रह्मविद्या का तत्त्व समझाता था ।[19]

ब्राह्मणी शिक्षा पद्धति की ही भांति बौद्ध एवं जैन शिक्षा व्यवस्था में भी गुरु को इसी प्रकार का सम्मान एवं आदर प्राप्त था।[20]

शिक्षक (आचार्य) के प्रकार :

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का आधार शिक्षक था । वैदिक युग में आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय की समस्त शिक्षा के आधार माने गये । यद्यपि आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु प्राचीन लेखकों ने उनमें अंतर स्थापित किया है । आचार्य (गुरु) की योग्यता, कर्त्तव्य एवं प्राचीन परम्पराओं के आधार पर शिक्षकों के विभिन्न प्रकार मिलते हैं -

आचार्य :

भारतीय शिक्षा-पद्धति में आचार्य सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होता था, जो अपने अध्यापन एवं अन्य शिक्षा संबंधी सेवाओं के प्रतिदान रूप में कुछ भी नहीं लेता था । धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में आचार्य की विधिवत् परिभाषा मिलती है । मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार जो ब्राह्मण ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत संस्कार (उपनयन) कर उसे कल्प (यज्ञ-विद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशाखा पढ़ाता है, उसे 'आचार्य' कहते हैं ।[21] निरुक्त की व्याख्यानुसार आचार्य विद्यार्थी को सम्यक् आचार समझने को प्रेरित करता है, या उससे शुल्क एकत्र करता है, या शब्दों के अर्थ एकत्र करता है, या बुद्धि का विकास करता है ।[22] चूँकि विद्यार्थी आचार्य से अपने कर्त्तव्य (आचार) एकत्र करता है, इसीलिए वह आचार्य कहलाता है ।[23] इस तरह आचार्य अपने विद्यार्थी को आचार (चारित्र्य)

की शिक्षा प्रदान करता था । आचार्य उपनयन करने से उपरान्त शिष्य को शौच-पवित्रता (शारीरिक शुद्धता), आचार (प्रतिदिन के जीवन में आचार के नियम = स्नान क्रिया आदि), अग्नि कार्य (समिधा को लाना तथा प्रातः सायंकाल हवन करना) एवं सन्ध्योपासना सिखाता है ।[24] वेदों के प्रति उत्सर्ग की भावना रखने वाले, अच्छे परिवार के, श्रोत्रिय, सुरुचि एवं वैदिक शाखा के ज्ञाता शिक्षक जो आलसी न हो, उसे आचार्य कहा गया ।[25] सच्चे अर्थो में वह भारतीय शिक्षा का आध्यात्मिक गुरु था।

उपाध्याय :

वह ब्राह्मण जो किसी विद्यार्थी को वेद का कोई एक अंग (मंत्र या ब्राह्मण भाग) या वेदांग (शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष) का कोई अंश वृत्ति के लिए पढ़ाता था, उसे 'उपाध्याय' कहा गया ।[26] अपने परिवार के जीविकोपार्जन-हेतु अध्यापन कार्य करने के कारण वह आचार्य से निम्न पद (श्रेणी) का शिक्षक माना गया । लगभग इसी प्रकार की परिभाषा वसिष्ठ[27] धर्मसूत्र, विष्णु[28] धर्मसूत्र एवं याज्ञवल्क्य[29] ने भी की है । चटिशाला (पाठशाला) में संस्कृत में शिक्षा देने वाला अध्यापक 'चट्टोपाध्याय' कहा गया ।

गुरु :

अध्यापन कार्य करने वाला गृहस्थ ब्राह्मण शिक्षक 'गुरु' कहलाता था । मनु के अनुसार - जो शास्त्रनुसार गर्भाधानादि संस्कारों को वेदविधि से सम्पन्न करता है और अन्नादि के द्वारा पालन-पोषण करता है; वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है ।[30] लगभग इसी प्रकार की बात याज्ञवल्क्य ने भी कही है । गुरु वही है जो संस्कार करता है और वेद पढ़ाता है ।[31] इस परिभाषा के अनुसार पिता भी गुरु की श्रेणी का शिक्षक हुआ । क्योंकि शिक्षा के प्रारंभिक चरण में पिता पालन-पोषण करते हुए अपनी सन्तान को वेदादि की शिक्षा देता था । प्राचीन भारतीय साहित्य में वास्तव में गुरु शब्द पुरुष या स्त्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए अधिक प्रयुक्त हुआ है । पिता-माता एवं आचार्य तीनों के लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है ।[32] बल्कि उनके लिए स्तुतिगान भी किये गये है ।[33] सामान्यतः गुरु ब्रह्मचर्य आश्रम में समस्त संस्कारों को सम्पन्न कराता था, इसके एवज में अपने परिवार के पोषण हेतु अन्नादि ग्रहण कर लेता था ।

शिक्षक (आचार्य) की योग्यता एवं कर्त्तव्य :

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में आचार्य का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता था । शिक्षा की मौखिक पद्धति में आचार्य की अनिवार्यता स्पष्ट थी । प्रारंभ में वैदिक ज्ञान गुरुओं के द्वारा मौखिक रीति से उपदिष्ट होकर परम्परागत रूप में भारतीय विद्यार्थियों को प्राप्त होता रहा । प्रारंभ में कोई भी विद्यार्थी आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर चुकने के पश्चात् स्वयं अध्यापन कार्य कर सकता था और उसके लिए अन्य योग्यताएँ निर्धारित नहीं थी । मगर धीरे-धीरे आचार्य के लिए उपेक्षित योगयताएँ निर्धारित कर दी गयीं, जिनका विस्तृत विवरण धर्मसूत्रों में विशेष रूप से मिलता है ।

उपनयन का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति तथा चरित्र-निर्माण था । आचार्य अपने विद्यार्थी का उपनयन-संस्कार कर उसे वेद की शिक्षा प्रदान करता था । ऐसी स्थिति में आचार्य स्वयं ही ज्ञान-सम्पन्न तथा उच्च चरित्रवान् नहीं होगा, तो वह विद्यार्थी आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर चुकने

के पश्चात् स्वयं अध्यापन कार्य कर सकता था और उसके लिए अन्य योग्यताएँ निर्धारित नहीं थीं । मगर धीरे-धीरे आचार्य के लिए उपेक्षित योग्यताएँ निर्धारित कर दी गयीं, जिनका विस्तृत विवरण धर्मसूत्रों में विशेष रूप से मिलता है ।

विद्यार्थी को आत्मसंयमी तथा धर्मनिष्ठ आचार्य से अध्ययन काल की समाप्ति तक वैदिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । श्रुतवान्, अभिजात, चरित्रवान् तथा तप:पूत ब्राह्मण को बालक का उपनयन करने को कहा गया है ।[34] व्यास के कथनानुसार आचार्य को ब्राह्मण, वेद में एकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि, श्रोत्रिय होना चाहिए, अपनी शाखा में प्रवीण, आलस्यहीन एवं अप्रमादी होना चाहिए ।[35] ब्रह्मचारी को भी यह आगाह किया गया है कि उसे किसी भी स्थिति में चरित्रहीन गुरु से शिक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिए । क्योंकि मज्जा से सने हुए हाथ रुधिर से शुद्ध नहीं हो सकते ।[36] आचार्य को शिष्य को मुक्तिमार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला होना चाहिए ।[37] एक अध्यापक के लिए केवल प्रकाण्ड पाण्डित्य होना ही पर्याप्त न था, बल्कि उसे वाक्चतुर (वाक्चातुर्य), वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन ग्रंथों का अर्थ करने में आशु-पण्डित होना चाहिए ।[38] आचार्य में स्वभावत: इन योग्यताओं का होना परम आवश्यक समझा जाता था ।

कालिदास अध्यापकों की योग्यता के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हैं। आचार्य को विद्वान् ही नहीं अपितु शिष्ट क्रियायुक्त, साधु प्रकृति वाला पटु अध्यापक होना चाहिए ।[39] उसमें अत्युच्च योग्यता होने की अपेक्षा की जाती थी, ताकि वह अपनी पवित्रता, चारित्रिक बल, पाण्डित्य और सदाचारी जीवन के द्वारा छात्रों के जीवन पर अमिट छाप डाल सके । आचार्य की कतिपय अन्य योग्यताओं के सम्बन्ध में यम का मानना है कि आचार्य को सत्यवाक्, धृतिवान्, दक्ष, प्राणिमात्र के प्रति दयालु, आस्तिक, वैदिक स्वाध्याय में रत, शुचि, वेदाध्ययन से सम्पन्न, चरित्रवान, जितेन्द्रिय एवं उत्साही होना चाहिए ।[40] स्पष्ट है कि आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय तथा प्रवचन में निहित थी । इसके साथ-साथ उसमें सत्याचरण सत्यभाषण कष्टसहिष्णुता संयम तथा चित्त की एकाग्रता का होना परम आवश्यक माना गया । यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जब तक उपनयन शिक्षा संस्कार रहा तो ये गुण अनिवार्य ही नहीं थे बल्कि समाज में इसका आदर भी था । कालान्तर में उपनयन के स्वरूप में हुए परिवर्तन के साथ उक्त योग्यताओं की उपेक्षा होने लगी ।[41]

आचार्य की आय :

प्राचीन काल में अध्यापक की निश्चित आय के संबंध में स्पष्ट साधनों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि शिक्षण काल के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था । सिद्धांत और परम्परा दोनों दृष्टियों से अध्यापन कार्य के एवज में छात्र से शिक्षण शुल्क माँगना वर्जित था । ऐसी स्थिति में अध्यापकों की कोई स्थायी आय न थी । स्वभावत: संतोषी प्रवृत्ति के ब्राह्मण आचार्य नि:संकोच भाव से विद्यार्थी को नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करना एवं ज्ञानार्जन कराना अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानता था ।

विद्यार्थी द्वारा अपने अध्ययन काल में भिक्षाटन में लाया गया अन्न, दान तथा शिक्षा समाप्ति के बाद दी गयी गुरु-दक्षिणा ही आचार्य के आय का मुख्य साधन था । धीरे-धीरे जब प्राध्यापक पौरोहित्य कार्य करने लगे तो यज्ञादि क्रियाओं में यदा-कदा मिली दक्षिणा से भी उन्हें कुछ आय

हो जाती थी । निश्चित रूप से यह आय काफी अल्प थी । गुरुशिक्षा समाप्ति के बाद ही अपने शिष्य से गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ स्वीकार करता था । जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् के इस कथन से स्पष्ट होता है - 'जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्त्र गौएँ, एक हाथी एवं एक बैल देना चाहा, तो याज्ञवल्क्य ने कहा - मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढ़ाये, शिष्य से कोई पुरस्कार नहीं लेना चाहिए ।[42] लगभग इसी तरह का विचार गौतम ने भी व्यक्त किया है ।[43]

आचार्य का शिष्य के प्रति भावना एवं सम्मान :

प्राचीन भारत में गुरु और शिष्य में काफी घनिष्ठ एवं प्रेमपूर्ण संबंध थे । "परस्पर सम्मान, विश्वास, एकत्रित जीवन" व्यतीत करने के कारण वे अभिन्न थे ।[44] वैदिक युग में जहाँ शिष्य गुरु को देवतुल्य मानकर पूजता था, वहीं आचार्य भी अपने शिष्य का आदर एवं सम्मान करता था । उपनिषद् की यह प्रार्थना कि - 'उत्तम ब्रह्मचारी लोग मेरे पास विद्या (विभिन्न विषयों) पढ़ने के लिए आयें, मेरे ब्रह्मचारी कपट शून्य हों, उत्तम ज्ञान को ग्रहण करने वाले हों, इन्द्रियों का दमन करने वाले हों, मन को वश में करने वाले हों । जिस प्रकार समस्त जल प्रवाह नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में मिल जाते हैं तथा जिस प्रकार महीनें, दिनों का अंत करने वाले सम्वत्सर रूप काल में जा रहे हैं, हे विधाता, उसी प्रकार मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी लोग आयें और मैं उनका विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याण का उपदेश देकर अपने कर्त्तव्य का एवं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूं[45] से स्पष्ट होता है कि वह अपने को यशस्वी एवं ब्राह्मण बनने के साथ-साथ शिष्यों के हितार्थ उन्हें भी ज्ञान से विभूषित करने की कामना करता था । उपनिषद् कालीन आचार्य 'पिप्पलाद' एवं 'कणाद' के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि आचार्य की उपज्ञा, विनम्रता, सत्यनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा, शिष्यों के प्रति सम्मान ज्ञापन का परिचायक है ।

आचार्य जीवन-पर्यन्त ज्ञानार्जन करने वाले शिष्यों को ससम्मान अपने परिवार के सदस्य के रूप में रखकर स्वयं गौरव का अनुभव करता था ।[46] अक्सर मंदबुद्धि के शिष्यों को भी उसकी सेवा और विनम्रता से प्रसन्न होकर उनका भी ज्ञानार्जन करता था । इसीलिए शिष्य अपने आचार्य को देवता की तरह पूजता था ।

निष्कर्ष

आज गुरु-शिष्य का सम्बन्ध वैसा नहीं रहा । इनके मध्य जो स्नेह भाव, आत्मीयता, सौहार्द की आवश्यकता है वह आज कई कारणों से नहीं है । कक्षा में नियत पाठ्यक्रम को पढ़ा देने के बाद विद्यार्थी का । तब चरित्र निर्माण, व्यवहारिकता की शिक्षा का अभाव रहता है, जिसके बिना विद्या अधूरी ही है । शिष्य में ग्रहण-शक्ति हो और शिक्षक में उपदेश देने की क्षमता हो, तभी विद्यालयों का अस्तित्व बना रह सकता है ।

संदर्भ :

1. गीतासार, 19.1
2. लक्ष्मीतंत्र, 21.30 एवं 36;विश्वामित्र संहिता, 3.2-16 ।
3. छान्दोगयोपनिषद्, 4.9.3
4. श्वेतश्वतरोपनिषद्, 6.23
5. द्र०, याज्ञ०, 1.212, अपरार्क द्वारा उद्धृत ।

6. आचार्य देवो भव, तै॰ उप॰
7. आपस्तम्भ धर्मसूत्र, 1.2.6.13
8. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अथर्ववेद, 11.5.3; गौ॰ धर्मसूत्र 1.10; मनु॰ 2.170
9. बौ॰ ध॰ सू॰, 1.2.48
10. महाभारत, आदिपर्व, 132, द्रोणपर्व, 127.17
11. महाभारत, अनुशासन पर्व, 36.15
12. मनु॰, 2.146; विष्णुधर्मसूत्र, 30.44
13. मनु॰ 2.145
14. याज्ञवल्क्य, 1.35
15. गौतम, 2.56
16. अ॰ स॰ अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ॰ 38
17. प्राजते सभामध्ये जारगय इवस्तियः ।।, नारद स्मृति, 1.38
18. ध्यानमूलं गुरोर्मूतिः प्रजामूलं गुरोः पदम् ।
    मंत्र मूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ।।, श्रीमद्भागवत, 11.3.21
19. मुण्डकोपनिषद, 1.1.4-5
20. डॉ॰ एच॰ आर॰ कापड़िया, द जैन सिस्टम ऑव एजूकेशन, जर्नल ऑव यूनिवर्सिटी
21. मनु॰ 2.140; याज्ञ, 1.35;गौतम, 1.10-11; वसिष्ठ ध॰ सू॰, 3.21
22. निरुक्त, 1.4
23. आप, धर्मसूत्र, 1.1.1.14
24. मनु॰ 2.69
25. व्यास, सं॰ प्र॰ पृ॰ 408 पर उद्धृत ।
26. मनु॰ 2.141
27. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 3.22-23
28. विष्णु धर्मसूत्र, 29.2
29. याज्ञवल्क्य, 1.35
30. मनु॰ 2.142
31. याज्ञवल्क्य, 1.34
32. विष्णुधर्मसूत्र, 32.1-2
33. मनुस्मृति, 2.227-237
34. कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान् । तपसा धूतनिः शेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोतमः शौनक, वी॰ मि॰ सं॰, भाग 1, पृ॰ 408 पर उद्धृत ।
35. व्यास, संस्कार प्रकाश, पृ॰ 408 पर उद्धृत ।
36. हारीत, वी॰ मि॰ सं॰, भाग 1, पृ॰ 408
37. कठोपनिषद्, 11.9; मुण्डकोपनिषद्, 1.2.3
38. महाभारत, 5.33.33
39. मालविकाग्निमित्र, प्रथमांक ।
40. यम वी॰ मि॰ स॰, भाग 1 पृ॰ 408 पर उद्धृत ।
41. अ॰ स॰ अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ॰ 203-4
42. बृहदारयकोपनिषद्, 4.1.2
43. गौतम, 2.54-55; आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3.9.4
44. महावग्ग, 1.32.1
45. तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम वल्ली, चतुर्थ अनुवाक् (1.1.4) ।
46. छान्दोग्योपनिषद्, 2.23.1